



विश्व व्यापार संगठन और कृषि सब्सिडी

डॉ० मंजूषा श्रीवास्तव

एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग

श्री अग्रसेन महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी)

उरूवे के पुन्टा डेल स्टेट में १९८६ में शुरू हुए व्यापार वार्ताओं के चक्र का अंतिम दौर मोरक्को के शहर माराकेश में १९९४ तक चला। इन वार्ताओं के बाद १९९४ से विश्व व्यापार समझौता कृषि क्षेत्र में लागू हुआ। यह समझौता कृषि क्षेत्र में निवेश और व्यापार के नियमों को वैश्विक स्तर पर संस्थाबद्ध किये जाने का प्रयास था। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि क्षेत्र को सरकारी नियंत्रण से मुक्त कर उत्पाद एवं व्यापार को निजी मालिकाने की ओर ले जाना था। यह सिर्फ व्यापार समझौता न होकर राष्ट्रों की सीमाओं से परे साम्राज्यवादी राजनीति और अर्थनीति के विस्तार का व्यावहारिक रूप भी था। बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से पिछड़े एवं विकासशील राष्ट्रों के बाजारों पर कब्जा करने और प्रभुत्व जमाने का यह कारगर हथियार था। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी संस्थाओं ने विकसित राष्ट्रों के एजेन्ट के रूप में उनके छिपे हुए एजेन्डों को लागू करने के लिए राष्ट्रीय सरकारों पर दबाव बनाने का कार्य किया। इस समझौते ने राष्ट्रीय सरकारों की स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमताओं को कमजोर कर उसे नव साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथों की कठपुतली बना दिया।

कृषि क्षेत्र में विश्व व्यापार की शुरूआत इन तर्कों के साथ हुई कि अक्षम प्रतियोगियों की आर्थिक सहायता बंद कर दी जायेगी। सरकारों द्वारा नियंत्रित सुरक्षित अन्न भंडारों को समाप्त कर दिया जायेगा तथा सीमा शुल्क हटा लिया जायेगा। इससे विश्व व्यापार उस दिशा की ओर मुड़ जायेगा, जहाँ माँग अधिक होगी। किसानों को विनियमित बाजारों से लाभ होगा और उनके उत्पादों का बेहतर मूल्य मिलेगा। बाजार की स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के कारण उपभोक्ताओं को भी सस्ते मूल्य पर खाद्य सामग्रियाँ प्राप्त होंगी। विकासशील देशों को यह भी विश्वास दिलाया गया कि विकसित राष्ट्र कृषि पर दी जाने वाली सहायता को नियंत्रित करेंगे, जिससे विकासशील देशों के कृषि उत्पादों को विकसित राष्ट्रों के बाजारों में प्रवेश मिलेगा। लेकिन वास्तविकता यह है कि विकसित देशों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीके से अपने किसानों को आर्थिक सहायता जारी रखी तथा विश्व व्यापार में बहुराष्ट्रीय निगमों को उतार कर समान प्रतियोगिता के सिद्धांत को तिलांजली दे दी। अमीर देशों ने विकासशील देशों को अपना बाजार उपलब्ध कराने की जगह उनके बाजारों पर कब्जा कर लिया।

कृषि क्षेत्र में विश्व व्यापार के लाभों का जो सब्जबाग दिखाया गया उससे हमारे देश का बौद्धिक वर्ग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। सी.एच. हनुमंत राव और अशोक गुलाटी जैसे अर्थशास्त्री ने ई.पी.डब्ल्यू (३१ दिसम्बर १९९४) में लेख लिखकर भारतीय कृषि को विश्व व्यापार से एकीकृत किये जाने की जोरदार वकालत की। उनका तर्क था कि खाद्य आत्मनिर्भरता के दायरे में कृषि का विकास ठहरावग्रस्त है। अतः हमें डेयरी उत्पादों तथा निर्यात योग्य फलों, फूलों और सब्जियों के उत्पादन और खाद्य प्रसंस्करण की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए। इससे कृषि व्यापार को लाभ पहुँचेगा और इसका फायदा रिस-रिस कर समाज के निचले तबकों तक पहुँचेगा। जाहिर है इन अर्थशास्त्रियों के विचार शासक वर्ग के विचारों से मेल खाते थे। अतः हमारी सरकारें इसी मार्ग पर चलीं।

विश्व व्यापार समझौते के तहत हमारे देश के शासक वर्ग ने विकसित देशों के इफरात सब्सिडी प्राप्त, उन्नत पूँजीवादी कृषि के समक्ष अरक्षित, उपेक्षित और अविकसित भारतीय कृषि को अचानक असमान प्रतिस्पर्धा में उतार दिया। यहीं से भारतीय कृषि और किसानों की लोमहर्षक त्रासदी शुरू हुई। १९९४ में कृषि से सम्बन्धित हुआ मोरक्को समझौता १ जनवरी १९९५ से हमारे देश में लागू कर दिया गया। भारत सरकार ने अमेरिकी दबाव के तहत घुटने टेकते हुए विश्व व्यापार संगठन के समझौतों के अनुसार ३१ दिसम्बर १९९६ को मात्रात्मक प्रतिबंध लगाने के अपने अधिकारों को त्याग दिया। अप्रैल २००१से अधिकांश मालों पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटा लिया गया। इसके साथ ही आयात शुल्क में भारी कटौती की गयी। इन नीतियों के कारण निर्यात की अपेक्षा आयात की मात्रा में इजाफा हुआ जो भारतीय कृषि और व्यापार के लिए नुकसानदेह साबित हुआ। मात्रात्मक प्रतिबंध और आयात शुल्क घटाने का भारतीय कृषि पर पड़े दुष्प्रभाव को हम खाद्य तेलों के आयात के संदर्भ में देख सकते हैं। कृषि क्षेत्र में विश्व व्यापार समझौता लागू होने के पूर्व सन् १९६३-६४ में हम खाद्य तेलों में आत्मनिर्भरता के करीब थे। लेकिन १९९५ में इन नीतियों को लागू होने के

बाद सबसे ज्यादा खाद्य तेलों का बाजार खोला गया। मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाये जाने और आयात शुल्क में कटौती के कारण बड़े पैमाने पर विदेशों से सोया और पाम तेलों का आयात किया गया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि खाद्य तेलों के संदर्भ में आत्मनिर्भरता के लक्ष्य से आज हम काफी दूर हैं। आज हम अपनी खाद्य तेल की जरूरतों का लगभग आधा हिस्सा आयात करते हैं। मात्रात्मक प्रतिबन्ध वह सुरक्षात्मक हथियार है जिससे किसी देश की सरकार अपनी जरूरतों के अनुसार मालों का नियंत्रित आयात करती है। साथ ही गैर जरूरी आयातों को प्रतिबंधित करती है, जिससे देश के भीतर की कीमतों के घटाव या बढ़ाव को नियंत्रित करने में मदद मिलती है। आयात शुल्क वह उपाय है जिससे विदेशी वस्तुओं पर शुल्क लगाकर उसे मँहगा किया जाता है ताकि उससे प्रतिस्पर्धा में देशी उत्पादोंको सुरक्षा प्रदान किया जा सके।

हमारे देश में कृषि को संरक्षण दिये जाने वाली प्रक्रियाओं को समाप्त किये जाने तथा आयात-निर्यात पर प्रतिबंध हटा लिये जाने से हमारे किसान और उपभोक्ता दोनों उतार-चढ़ाव भरे विश्व बाजार के भँवर की चपेट में आ गये। विश्व व्यापार समझौतों के तहत सरकारी खरीद तथा समर्थन मूल्य को कम कर दिये जाने से किसान बेबस और लाचार हो गये। दूसरी ओर विकसित राष्ट्रों ने तरह-तरह के बहाने बनाकर अपने किसानों को भारी सहायता जारी रखी। अतः उनके किसानों की व्यक्तिगत उत्पादन लागत कम हुई और बाजारों में कम कीमत पर अपने उत्पादों को बेचकर भी वे मुनाफे में रहे। हमारे किसान अपनी अत्यधिक लागत और कम बाजार भाव के कारण ऋणग्रस्त होकर आत्महत्या करने को मजबूर हुए। विश्व व्यापार समझौतों के तहत यह प्रावधान भी है कि हर देश अपने कुल घरेलू उपभोग का २ प्रतिशत अनाज विश्व बाजार से खरीदेगा। विपरीत परिस्थितियों के कारण हमारे किसानों को प्रतिस्पर्धी विश्व बाजार में तो प्रवेश नहीं ही मिला, वे अपने घरेलू बाजार के २ प्रतिशत हिस्से से भी वंचित रह गये। यही वह मूल कारण है, जिससे खेती में निरंतर घाटा सहते हमारे किसान खेती छोड़कर दिहाड़ी मजदूर बनने और शहर दर शहर विस्थापित होकर भटकने को मजबूर हुए। विश्व व्यापार समझौतों से प्रभावित सन् २००० तक पूरी दुनिया के लगभग ३ करोड़ किसान अपनी जमीनों से हाथ धो बैठे।

विकासशील देशों के नजरिये से देखे जाने पर कुछ विश्लेषकों ने विश्वव्यापार समझौतों को 'धोखाधड़ी की नायाब मिसाल' कहा है। यह गलत दिशा में किया गया व्यापार का उदारीकरण था। यह समझौता पश्चिमी देशों, खासकर यूरोप और अमेरिका के हितों को प्रश्रय देता है। विकासशील देशों की चाय, कहफ़ी, कोक आदि वस्तुएँ जो आज उनके बाजारों में निर्यात हो रही है, वह समझौतों के पूर्व भी होती थी। इन वस्तुओं का घरेलू उत्पादन उनके यहाँ नहीं के बराबर था। अतः उन्हें कोई नुकसान नहीं हुआ। कुछ विकासशील देशों को तो इन वस्तुओं के व्यापार में विकसित राष्ट्रों द्वारा तरजीही दर्जा प्राप्त था। इस प्रकार विकासशील देशों को विकसित देशों में कोई नया बाजार नहीं मिला पर अपने बाजारों को उनके लिए खोलना पड़ा। इन देशों में उनके द्वारा ऐसी वस्तुओं का निर्यात किया गया जो उनके मुख्य खाद्यान्न थे। इससे उन देशों में कीमतें गिरी और उत्पादन हतोत्साहित हुआ। उत्पादकों की मुसीबतें बढ़ गयीं। सोफिया मर्फी ठीक ही कहती है "कृषि संबंधी समझौता कृषि के लिए एक खास महडल निर्धारित किये हुए है और उस महडल को खुद बनवाये हुए नियमों के माध्यम से लागू करवाता है। यह धनी देशों का महडल है जो औद्योगिक कृषि को आगे बढ़ाता है और विकासशील देशों की सरकारों से उसी नक्शेकदम पर चलने की अपेक्षा करता है। यह उन अरबों किसानों की जरूरतों और हितों की अनदेखी करता है जो धनवानों की उस दुनिया में नहीं रहते। हालांकि यह समझौता प्रकट रूप से केवल विश्व बाजार और व्यापार से ही संबंध रखता है, लेकिन इस बारे में निर्देश देता है कि कोई भी देश अपने कृषि क्षेत्र में किस प्रकार का निवेश कर सकता है। व्यवहार में कृषि सम्बन्धी समझौता विकसित देशों में सब्सिडी को वैधानिकता प्रदान करता है, जो विश्व बाजार को विकृत कर देता है और विकासशील देशों के सामने उपलब्ध विकल्पों को कम कर देता है, जो ग्रामीण खुशहाली और घरेलू खाद्य सुरक्षा को संरक्षित करने में रूचि रखते हैं।"

भारत जैसे देशों ने विकसित राष्ट्रों से कुछ ज्यादा ही उम्मीदें लगा रखी थीं। हमारे देश में व्यापक गरीबी और बेरोजगारी को देखते हुए यहाँ की खेती और किसानों को विश्व बाजार के हमलों से रक्षा करने की जरूरत है। इस सम्बन्ध में एम.एस. स्वामीनाथन का यह आकलन और सुझाव विचारणीय है,- "विश्वव्यापार समझौते का पाठ प्रभुत्वशाली ढंग से पश्चिम के पक्ष में झुका हुआ है। उसे विकसित ही इसी तरह किया गया है। हुआ यह कि हमने पश्चिम से इसकी अनावश्यक उम्मीदें लगा ली कि वह सब्सिडियाँ कम करेगा, हमारे उत्पादों को बाहरी बाजारों में और ज्यादा प्रतियोगी बनने देगा। हमें दस-पन्द्रह वर्षों तक के लिए सस्ते मालों से बाजार पाटे जाने से सुरक्षा चाहिए। हमें गरीबी पर काबू पाना चाहिए, लेकिन हमें यह कहने में शर्म नहीं आनी चाहिए कि हमारा देश गरीब है और हमें संरक्षण की जरूरत है। इस तरह विश्वव्यापार संगठन समझौते में एक 'आजीविका बहक्स' की जरूरत है (जिसके अन्तर्गत देशों को इसका अधिकार मिले कि अगर आयातों का असर उनके लोगों की आजीविका पर पड़ता है तो आयातों पर अंकुश लगा सकें)। हो सकता है कि हम खाद्य सुरक्षा हासिल कर चुके हों, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि आजीविका सुरक्षा भी हासिल कर चुके हैं।"

विश्व व्यापार अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है। यह एक उपकरण मात्र है, जिससे कोई राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अतः विश्व व्यापार के नियमों को किसी राष्ट्र की कृषि नीति को प्रभावित करने या निर्देशित करने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर और मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के अनुसार किसी राज्य का दायित्व अपने नागरिकों का सम्मान करना, संरक्षण देना और जरूरतों को पूरा करना है। अतः विश्वव्यापार के नियमों से अगर किसी राज्य के नागरिकों के संरक्षण और सम्मान का मानवाधिकार प्रभावित होता है तो उसे अपने ऊपर प्रभावी नहीं होने देना चाहिए। अपने नागरिकों के मानवाधिकारों की रक्षा के लिए वैसे प्रावधानों की मुखालफत की जानी चाहिए।

विश्व व्यापार में शामिल दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की इफरात पूँजी और बाजार पर उसके एकाधिकार की प्रवृत्ति मुक्त व्यापार के बुनियादी सिद्धांतों के विपरीत है। ये कम्पनियाँ बहुत ही संगठित और आक्रामक तरीके से किसी वस्तु के व्यापार में शामिल होकर उस देश के बाजार पर एकाधिकार का षड्यंत्र रचती हैं। किसी भी खाद्य वस्तु या प्रसंस्करण के व्यापार में उतरकर ये सबसे पहले आपूर्ति बढ़ाकर कीमतों को लागत मूल्य से भी नीचे के स्तर तक ले जाकर प्रतिस्पर्धियों को बाजार से बाहर कर देती हैं और बाजार पर पूर्णतया कब्जा कर लेने के बाद मनमानी कीमत वसूलती हैं।

ये कम्पनियाँ कई वस्तुओं का व्यापार कई देशों में एक साथ करती हैं। अतः किसी भी खाद्य वस्तु या देश में लम्बे समय तक व्यापार घाटा सहकर भी अन्य देशों और मालों से प्राप्त मुनाफे के आधार पर अपने प्रतिद्वंद्वियों को तबाह और बर्बाद कर बाजार से निष्कासित करने में पूरी तरह सक्षम होती हैं। आई.बी.पी., कारगिल, कहनआग्रा ऐसी ही ताकतवर बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं। 'कहनआग्रा' एक ऐसी ही विशाल कंपनी है, जिसका २५ प्रतिशत खाद्य सामग्री, चारा, उर्वरक, ५३ प्रतिशत हिमशीत भोजन और २२ प्रतिशत किराने के उत्पादों की बिक्री पर कब्जा है। यह कंपनी अनाज भंडारण करने वाले १०० ऐलीवेटर, २००० मालगाड़ी के डिब्बे और १,१०० मालवाहक नौकाओं की मालिक है। यह सबसे बड़ी टर्की उत्पादक और दूसरी सबसे बड़ी मुर्गा उत्पादक है। यह अपने मुर्गों के लिए दाना खुद बनाती है। इसी तरह 'कारगिल' दुनिया की ग्यारहवीं बड़ी कंपनी है, जिसके ६० देशों में ८०० जगहों पर ७० हजार कर्मचारी कार्यरत हैं। यह नमक, चीनी, मक्का, गेहूँ, चावल, सोयाबीन, मूँगफली, फल, सब्जियाँ, गोमांस, कपास, रबर और स्टील आदि पचास अलग-अलग प्रकार की जिन्सों का व्यापार करती है। इसकी पूरी दुनिया में फैले हुए बल्क टर्मिनल हैं जो ४० मिलियन टन अनाज संभाल सकते हैं। इसके पूरी दुनिया में फैले केन्द्र निजी दूर संचार तंत्र से जुड़े हैं। ये सभी निगम अपनी साधनों की प्रचुरता, अपने विस्तार एवं विशेषज्ञता के बूते बाजार की हर हरकत से लाभ उठाने में सक्षम हैं। जैसे वे व्यापारिक उपग्रहों व सांख्यिकी प्रतिष्ठानों से किसी देश के कृषि उत्पादन का पूर्वानुमान उस देश की सरकार से भी पहले लगा लेते हैं।

२००७ में जब पूरी दुनिया खाद्य संकट से जूझ रही थी, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ मुनाफा पीटने में लगी हुई थीं। दुनिया का संकट इनके लिए वरदान साबित हो रहा था। २००७ की पहली तिमाही में आर्चर डैनियल्स मिडलैण्ड की कमाई में ४२ प्रतिशत, मोनसैंटो की ४५ प्रतिशत और कारगिल की कमाई में ८६ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। कारगिल की सहयोगी कंपनी मोजैक फर्टिलाइजर का मुनाफा तो बढ़कर १२०० फीसदी हो गया था।

कुछ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सालाना आय देखकर किसी के भी होश उड़ सकते हैं। "सन् २००७ में खाद्य प्रसंस्करण कम्पनी नेस्ले ने ६.७ अरब डहलर का मुनाफा कमाया, जो ६५ निर्धनतम देशों के २००७ के कुल घरेलू उत्पाद से भी ज्यादा था। दुनिया की सबसे बड़ी खुदरा कम्पनी वालमार्ट ने ३१ जनवरी २००६ को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में १३.३ अरब डहलर का मुनाफा कमाया। केवल मुनाफे की ही यह धनराशि २००७ में दुनिया के लगभग आधे देशों (कुल मिलाकर ८८ देशों) के कुल सकल घरेलू उत्पाद से ज्यादा थी (कुल बिक्री सैकड़ों अरब डहलर में थी)। इस बाजार की ताकत से ही वह दोनों क्षमता प्राप्त होती है, जिससे कि कीमतों का पूर्वानुमान (और कुछ हद तक उनका निर्धारण) किया जाता है और सौ से अधिक देशों में, जहाँ ये विशालतम कम्पनियाँ व्यवसाय करती हैं, उनमें से कई देशों में व्यापार तथा निवेश नीति पर मनचाहा प्रभाव डालने के लिए राजनीतिक दबदबा बनाया जाता है और इसी से यह शक्ति भी प्राप्त होती है कि भावी प्रतियोगियों को किनारे लगाया जा सके। दरअसल मुक्त विश्व व्यापार की सबसे बड़ी खिलाड़ी और लाभार्थी ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ ही हैं। ये किसी भी देश की राष्ट्रीय सरकारों को प्रभावित करने के साथ-साथ उन्हें गिराने और बनाने की ताकत भी रखती हैं। यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ ही विश्व व्यापार समझौते के लिए सबसे ज्यादा लालायित थीं। उरूवे दौर का अमरीकी दस्तावेज 'कारगिल' के भूतपूर्व वरिष्ठ उपाध्यक्ष डहन आमस्तुज ने तैयार किया था, जो अमरीकी कृषि विभाग के भूतपूर्व कर्मचारी भी थे।

विश्व व्यापार समझौतों के बाद मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाये जाने तथा आयात शुल्क में कटौती के कारण अमेरिकी और यूरोपीय सस्ते मालों के आयात से भारतीय बाजार पट गया। अमेरिका और यूरोप अपने किसानों को अत्यधिक सब्सिडी प्रदान करता है। अतः उनके किसान लागत मूल्य से कम पर भी अपने कृषि उत्पादों को बेचकर भारी मुनाफे में रहते हैं। इसके विपरीत भारतीय किसानों की सब्सिडी प्रतिस्पर्धी देशों की तुलना में बहुत ही कम है। जो सब्सिडी थोड़ी बहुत बची है उसमें भी निरंतर कटौती की जा रही है।

बीज, खाद, डीजल, बिजली एवं अन्य कृषि उपकरणों के महँगे होने के कारण हमारे किसानों की उत्पादन लागत बहुत ज्यादा होती है। अतः उच्च सब्सिडी प्राप्त विदेशी कृषि उत्पादों के द्वारा गिराये गये बाजार मूल्य पर अपने उत्पादों को बेचकर वे भारी नुकसान उठाते हैं। वे अपने पूर्व में लिये गये कर्ज की भरपाई कर नहीं पाते और उससे भी ज्यादा नये कर्ज के चंगुल में फँस जाते हैं। भारत सरकार ज्यादा से ज्यादा आयात शुल्क लगाकर अपने किसानों की रक्षा कर सकती थी पर ऐसा न करके विदेशी कृषि उत्पादों के आगे उसने अपने किसानों को हलाल होने के लिए छोड़ दिया है।

विकसित राष्ट्रों ने विश्व व्यापार समझौतों के तहत सब्सिडी घटाने का वादा पूरा नहीं किया, उल्टे और बढ़ा दिया। विश्व व्यापार के नियम सबके लिए समान नहीं हैं। अमेरिका और यूरोपीय देशों ने कृषि भुगतान तथा माल की कीमतों को अलग कर तथा आधारभूत ढाँचे को व्यापक मदद पहुँचाकर अप्रत्यक्ष रूप से सब्सिडियों को बनाये रखा। अमेरिका अपने हर किसान को सालाना लगभग ३५००० डल्लर की सब्सिडी प्रदान करता है, जबकि भारतीय किसानों की औसत वार्षिक आमदनी ३००-४०० डल्लर है। एक जापानी किसान को अमेरिकी किसानों से भी ज्यादा सब्सिडी मिलती है। दूसरी तरफ जापान यह कहकर कि उसके लिए चावल केवल माल नहीं, बल्कि जीने की शैली है, चावल के आयात पर २०० प्रतिशत शुल्क लगाकर अपने किसानों के हितों की रक्षा करता है।

अमेरिकी किसानों को उनकी फसल के कुल मूल्य से दुगने से भी ज्यादा सब्सिडी मिलती है। पी. साईनाथ के अनुसार "३६ खरब डल्लर के कृषि मूल्य पर अमरीका अपने कपास उत्पादकों को ४७ खरब डल्लर की सब्सिडी देता है। इस सब्सिडी ने निचले स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय कपास बाजार को तहस-नहस कर दिया। २बुर्किनाफासो और माली के राष्ट्रपतियों ने जुलाई २००३ में न्यूयार्क टाइम्स को लिखे एक लेख में लिखा है- 'आपकी कृषि सब्सिडियाँ हमारा गला घोट रही हैं।' हमारी दलाल और दबू सरकारों में तो इतना आत्मविश्वास भी नहीं है कि इस तरह की उचित शिकायत कर सकें।

जाहिर है ऐसे असमान और अरक्षित स्थिति में अमेरिकी और यूरोपीय किसानों के समक्ष भारतीय किसानों को असहाय छोड़ देना मौत के मुँह में धकेलना नहीं तो और क्या है? भारतीय देशी और विदेशी कंपनियाँ एक तरफ लागत सामग्रियों की कीमतें बढ़ाकर किसानों को लूटती हैं, दूसरी तरफ सरकार थोड़ी-बहुत बची हुई सब्सिडियों में कटौती करके, समर्थन मूल्य और सरकारी खरीद बंद करके उनके संकट को और भी बढ़ा देती है। विदेशों से आयातित सस्ते दर के कृषि उत्पाद रही सही कसर भी पूरी कर देते हैं। भारतीय किसानों की मरणासन्न स्थिति का फायदा उठाने में स्थानीय महाजन और सूदखोर भी पीछे नहीं रहते। फसल दर फसल घाटा, गैर संस्थागत ऋणों की वसूली के दबाव के आगे उन्हें आत्महत्या के सिवा और कोई रास्ता नहीं दिखता। इस तरह किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्याएँ, आत्महत्या नहीं, सोची-समझी रणनीति के तहत ठण्डे मन से की गयी हत्याएँ हैं। आज चारों तरफ से घेरकर व्यवस्था उनका शिकार कर रही है।

उपर्युक्त स्थितियों में भारतीय किसानों की रक्षा के लिए सब्सिडियाँ बढ़ायी जानी चाहिए। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के दबाव में और वित्तीय पूँजी को प्रसन्न करने के लिए भारतीय किसानों को दी जाने वाली सब्सिडियों में निरंतर कमी की जा रही है। विश्व व्यापार समझौतों के पूर्व १९६० के दशक तक खेती को दी जाने वाली सब्सिडी २०० हजार करोड़ थी, जिसमें २०११ तक १०० हजार करोड़ की कटौती कर दी गयी। कृषि के नाम पर कुछ सब्सिडी मिलती भी है, उसे उद्योगों द्वारा डकार लिया जाता है। खादों पर दी जा रही सब्सिडियाँ इधर किसानों को न मिलकर, खाद कंपनियों को दी जा रही है। लेकिन इससे किसानों को कोई खास राहत नहीं मिल पाती। उन्हें खादों पर उतना ही खर्च करना पड़ता है। २०११ के बजट में अगले वर्ष के लिए उर्वरक सब्सिडी में ६ फीसदी यानी ४६७६ करोड़ रुपये की कटौती की घोषणा की गयी थी। "सरकार ने चालू वित्त वर्ष (२०१३-१४) के लिए डीएपी जैसे फ़ह्रस्फेट और पोटाश आधारित रासायनिक उर्वरकों पर सब्सिडी और कम करने का फैसला किया है। २.उर्वरक मंत्रालय का अनुमान है कि उर्वरकों पर सब्सिडी चालू वित्त वर्ष में ४,५०० से ५,००० करोड़ रुपये कम होकर करीब २७,५०० करोड़ रह जायेगी"। इससे न सिर्फ खादों के मूल्य बढ़ जायेंगे, बल्कि खादों की किल्लत भी हो जायेगी। कुछ अन्य सब्सिडियाँ जो छोटे किसानों को दी जाती है, उसका ६५ से ७० प्रतिशत हिस्सा धनी किसानों द्वारा झपट लिया जाता है। छोटे किसान उससे वंचित ही रह जाते हैं। सरकार कॉरपोरेट घरानों के कर माफी तथा राजस्व में कटौती के माध्यम से २००८-०९ में ४,१८,०६५ करोड़ रुपये की सब्सिडी दी थी, जबकि उसी वर्ष खाद्य पर दी गयी कुल सब्सिडी मात्र ४३,६८८ करोड़ की थी।

भारतीय किसान दुनिया का पहला ऐसा उत्पादक है, जिसके उत्पाद की कीमत तय करने में उसकी कोई भूमिका नहीं होती। उसकी मजबूरी है कि उसे अपना अनाज लेकर मंडी में जाना होता है, जहाँ उसकी कीमतें दलाल, व्यापारी और सरकार तय करती है। इन तीनों की भूमिका शोषणकारी होती है। भारतीय किसानों की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि अपने कृषि कार्य में काम आने वाली सामग्रियों को वे कहरपेरित घरानों और मल्टीनेशनल कंपनियों द्वारा तय किये दामों पर खरीदते हैं। इसी तरह अपने अनाजों को विदेशों से आयातित उच्च सब्सिडी प्राप्त उत्पादों द्वारा गिराये गये भाव पर बेचते हैं। कीमतों के निर्धारण में उनकी कोई भूमिका नहीं

होती। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी खराब होती है कि वे बाजार भाव बढ़ने की प्रतीक्षा भी नहीं कर पाते और कम कीमतों पर आपदा बिक्री के लिए मजबूर होते हैं। यह आम बात है कि फसल उत्पादन के समय उसकी कीमत कम होती है। इन्हीं कम कीमतों पर व्यापारी और अब तो बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी किसानों से अनाज खरीदकर बाद में बड़े दामों पर बेच देती हैं।

अन्ततः वास्तविकता यही है कि किसानों के उत्पादन के बढ़ते लागत मूल्य और उसके श्रम का प्रतिदान उसे नहीं मिलता। यही कारण है कि देश के विभिन्न हिस्सों से आज किसानों द्वारा अपनी फसलें बर्बाद किये जाने की निराशाजनक सूचनाएँ मिल रही हैं। यह एक तरह का आत्मघाती कदम है। आत्महत्या से पूर्व उठाया गया आखिरी कदम। छत्तीसगढ़ के भाटापारा में दलालों की किचकिच से तंग आकर किसान बाजार के बाहर ट्रकों पर लदे गोभी फेंककर चले जाते हैं। गोभी की फसलों से भरे खेत पर हल चला देते हैं। उत्तरप्रदेश और हरियाणा के किसान गन्ने को अपने खेतों में जला डालते हैं। उत्तरप्रदेश के प्रतापगढ़ में प्रसिद्ध आँवला उत्पादक किसान दलालों की मनमानी से तंग आकर आँवला के पेड़ों की कटाई करने लग जाते हैं। बंगाल के हुबली और बर्द्धमान में किसान आलू को सड़कों पर डाल देते हैं। इन समस्त घटनाओं का कारण यही है कि किसानों को अपने उत्पादों का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। उत्पादन वे करते हैं और लाभ दलाल और व्यापारी चट कर जाते हैं। छत्तीसगढ़ के वनवासी इलाकों में हर्रे की कीमत वनौषधि विभाग ने ६ रुपये किलो तय की है, जबकि देश के किसी भी शहर में इसका मूल्य २०० रु. किलो से ज्यादा है।

किसानों के साथ नाइंसाफी यह है कि अन्य उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतें जिस रफ्तार से बढ़ती है, किसानों के उत्पादों के मूल्य उस तेजी के साथ नहीं बढ़ते। १९६७ में एक क्विंटल गेहूँ बेचकर उस समय का किसान २१२ लीटर डीजल खरीद सकता था, लेकिन आज उतना ही गेहूँ बेचकर वह सिर्फ २५ लीटर डीजल खरीद सकता है। ढाई क्विंटल गेहूँ के समर्थन मूल्य से उस समय एक तोला सोना खरीदा जा सकता था पर आज १ तोला सोना खरीदने के लिए २२ क्विंटल गेहूँ बेचने की जरूरत होगी। स्पष्ट है, किसानों के उत्पादन के मूल्य जिस मापदण्ड पर तय किये जाते हैं, उसमें खोटा है। जान-बूझकर उनके हितों की अनदेखी कर उनके साथ अन्याय किया जाता है, क्योंकि उनका कोई मजबूत संगठन नहीं है। उनकी कोई सम्मिलित आवाज नहीं है। जब से कृषि उत्पादों का बाजार विश्व बाजार से जुड़ा है, कीमतों में उतार-चढ़ाव बहुत तेजी के साथ होता है। देशी व्यापारी हों या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, बढ़ती हुई कीमतों का फायदा खुद निगल जाती हैं, पर घटती कीमतों का सारा बोझ किसानों के ऊपर डाल देती हैं। बाजार की अनिश्चितताओं का पूँजीवादी हल है-वादा व्यापार या ठेके की खेती। लेकिन ये दोनों विकल्प किसानों को अपनी खेती से अलगाव में डालकर उसे बड़ी पूँजी का यांत्रिक गुलाम बना देते हैं।

औपनिवेशक जमाने में अकाल और भूख से मौतें भयावह सच्चाई थी। आजादी के बाद भूख और कुपोषण के अभिशापों से मुक्ति तथा किसानों की सहायता के लिए सरकारी खरीद और सार्वजनिक वितरण प्रणाली जैसी योजनाओं की शुरूआत की गयी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से जरूरतमंदों तक उचित मूल्य पर खाद्य सामग्रियाँ पहुँचायी गयी। सरकारी खरीद और सार्वजनिक वितरण प्रणाली किसान और उपभोक्ता दोनों को बाजार के उतार-चढ़ाव के खतरों से महफूज रखते हैं। लेकिन विश्वव्यापार समझौतों की दिशा में विश्व बैंक की ओर से भारत एवं अन्य विकासशील देशों पर निरंतर दबाव डाला जा रहा है कि सरकारी खरीद और सार्वजनिक वितरण प्रणाली को समाप्त किया जाये। बहुत सारे पिछड़े और विकासशील देशों ने १९९० के दशक से ही सार्वजनिक वितरण प्रणाली को छिन्न-भिन्न करना शुरू कर दिया था। हमारी सरकार भी धीरे-धीरे इस व्यवस्था को कमजोर और निश्रभावी बनाती जा रही है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर भ्रष्टाचार के आरोप पहले से ही लगते रहे हैं पर खाद्य सुरक्षा और नगद भुगतान की आड़ लेकर आज इस व्यवस्था को खत्म करने की साजिश चल रही है। व्यापक जनता की खाद्य सुरक्षा पर्याप्त सरकारी खरीद और जनवितरण प्रणाली के माध्यम से उचित दर पर जनसाधारण तक खाद्यान्न पहुँचाने पर ही निर्भर है पर जनसंख्या बढ़ने के साथ ही सरकारी खरीद निरंतर घटती जा रही है। २००५-०६ में चावल, गेहूँ एवं अन्य खाद्यान्नों की कुल सरकारी खरीद ४.२४ करोड़ टन की गयी थी जो २००६-०७ और २००७-०८ में घटकर क्रमशः ३.५९ तथा ३.७६ करोड़ टन हो गयी। नौवें दशक में विभिन्न राज्यों में गैर खाद्य निर्यात योग्य वस्तुओं के लिए जिन विभिन्न बोड़ों का गठन किया गया था, उन्हें अब जानबूझकर अक्षम बना दिया गया है। कपास, कहफ़ी, चाय, रबर और मिर्च उत्पादक किसानों द्वारा वैश्विक स्तर पर गिरे मूल्यों पर अपने उत्पादों को बेचना महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्नाटक और केरल जैसे राज्यों में किसान आत्महत्याओं का सबसे बड़ा कारण रहा है।

उत्सा पटनायक द्वारा सरकारी खरीद और सार्वजनिक वितरण प्रणाली को समाप्त किये जाने के विकसित देशों के दबाव के पीछे हमारे खाद्य तंत्र पर उनके कब्जे की मंशा को पहचानना उचित ही है। इसीलिए वे आगाह करती हैं, "सरकारी खरीद तथा समर्थन मूल्य की जो व्यवस्था हमारे यहाँ लागू है, किसान तथा उपभोक्ता, दोनों को ही विश्व बाजार के अंधाधुंध उतार-चढ़ावों से बचाती है। ठीक इसी व्यवस्था को विश्व बैंक द्वारा अपने हमलों का निशाना बनाया जा रहा है, जो इसे कथित रूप से तो 'कार्यकुशलता' के नाम पर लेकिन वास्तव में इसलिए नष्ट करना चाहता है ताकि हमारे देश को विकसित देशों से अनाज के शुद्ध आयातकर्ता में तब्दील किया जा सके।"

देश में बड़े पैमाने पर गरीबी तथा भूख से मौतों तथा किसानों की आत्महत्या की घटनाओं को देखते हुए सार्वजनिक वितरण प्रणाली और सरकारी खरीद को समाप्त करने के बहुत ही गंभीर परिणाम होंगे। खुद योजना आयोग के आँकड़ों के अनुसार देश के ३२ प्रतिशत लोग गरीब हैं। योजना आयोग द्वारा राज्य सरकारों पर निरंतर दबाव डाला जा रहा है कि बी.पी.एल. के अंतर्गत ३६ प्रतिशत से ज्यादा लोगों को न लाया जाये। कई बार कुपोषण और भूख से मौतों पर सुप्रीम कोर्ट केन्द्र सरकार को फटकार लगा चुका है। जब भी कुपोषण और भूख का मामला उठाया जाता है सरकार हमेशा यह तर्क देती है कि गरीबी घट रही है तथा देश में अनाजों की कमी नहीं है। अन्न भण्डार भरे हुए हैं, लेकिन गिरती क्रय शक्ति के कारण बहुसंख्यक लोग खाद्यान्न खरीदने की स्थिति में नहीं हैं। २०११ तक गरीबी का पैमाना शहरों में १७ रु. और गाँवों में १२ रु. रोजाना खर्च को माना गया था, जो कहीं से उचित नहीं है।

सुप्रीम कोर्ट ने सड़ते हुए अनाजों और भूख से हो रही मौतों की खबरों के बीच कहा था अगर सरकार गोदामों में सड़ते हुए अनाजों की रक्षा नहीं कर सकती तो देश के गरीबों में मुफ्त बाँट दे, लेकिन सरकार के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। अन्य उत्पादों की अपेक्षा कृषि उत्पादों की कीमतें हमेशा से कम रही हैं।

इसके पीछे सरकारों की मंशा यह रहती है कि मजदूरी तथा वेतन का भुगतान कम करना पड़े तथा कम कीमत पर उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध कराया जा सके। हरित क्रांति के बाद बीज, खाद, कीटनाशकों तथा डीजल और विद्युत के बढ़ते खर्चों ने किसानों की उत्पादन लागत बढ़ा दी। खुले बाजार के मूल्य कभी-कभी उत्पादन लागत से भी कम होते हैं। अतः किसानों ने कृषि क्षेत्र में बने रहने के लिए सरकार से समर्थन मूल्य की माँग की और इसके लिए बड़े आन्दोलन हुए। विश्व व्यापार के नये दौर में जब से विदेशों से भारी मात्रा में सब्सिडी प्राप्त अनाज भारतीय बाजार में प्रवेश करने लगे हैं और विशालकाय कम्पनियाँ अनाज व्यापार में शामिल हुईं, कृषि उत्पादों की कीमतें और भी गिर गयीं। अतः ऐसे में किसानों के हितों रक्षा के लिए समर्थन मूल्य की महती आवश्यकता है। किसान संगठनों की तरफ से हमेशा यह माँग हो रही है कि स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों के अनुरूप समर्थन मूल्य तय किया जाये। उस सिफारिश में लागत मूल्य का ५० प्रतिशत लाभ जोड़कर न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारित किये जाने की बात कही गयी है। इधर देश के विभिन्न हिस्सों में एक नयी प्रवृत्ति उभर कर सामने आयी है कि किसान सिर्फ अपने फसलों की बर्बादी और ऋणग्रस्तता के कारण ही आत्महत्या नहीं करता, बल्कि फसलों के उचित मूल्य और सरकार द्वारा समर्थन मूल्य न मिल पाने की वजह से भी आत्महत्याएँ कर रहा है। "पश्चिम बंगाल के बर्दवान जिले में बीते ६ महीने के भीतर २७ किसान अपनी जान ले चुके हैं। खुदकुशी की वजह यदि जानें, अपनी फसल का न्यूनतम समर्थन मूल्य न मिल पाना है। यानी इन किसानों ने अपनी जान फसल के नुकसान होने की वजह से नहीं, बल्कि फसल के सही दाम न मिल पाने की वजह से ले ली। २२.. उनका बहुत सारा धान न तो सरकारी खरीद में आ सका और न ही उन्हें न्यूनतम समर्थन मूल्य मिल पाया। २२ पिछले दिनों जब केन्द्रीय दल ने उत्तरप्रदेश और बिहार का दौरा कर जमीनी हकीकत जाननी चाही, तो मालूम चला कि वहाँ भी किसानों को घोषित मूल्य से ३० फीसदी कम पर धान बेचने को मजबूर होना पड़ा। २. बर्दवान में सामने आये किसान खुदकुशी के मामले हमें मुल्क में एक नयी सच्चाई से वाकिफ कराते हैं कि जब किसी वजह से फसल चैपट होती है, तब तो किसान मुसीबत में होता ही है, लेकिन जब पैदावार अच्छी होती है और उसे अपनी फसल का वाजिब दाम नहीं मिल पाता, तब भी वह मुसीबत में आ जाता है।" स्पष्ट है कि उपर्युक्त परिस्थितियों में किसानों और कृषि की रक्षा के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य बहुत सकारात्मक भूमिका निभा सकता है। पर इसे लेकर हमारी सरकारें कितनी गंभीर है इसे २००७ के उदाहरण से समझा जा सकता है। २००७ में गेहूँ की फसल आने के बाद सरकार ने ७५० रु. क्विंटल की दर से समर्थन मूल्य की घोषणा की पर बाजार मूल्य ज्यादा होने के कारण १०० रु. बोनस देने का विचार किया। बोनस देकर भी सरकार का न्यूनतम समर्थन मूल्य ८५० रु. प्रति क्विंटल, बाजार दर ६५० रु. से कम था। उस समय गेहूँ का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार भाव १०५० रु. प्रति क्विंटल था। अतः व्यापारियों, कम्पनियों तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने सरकार द्वारा समर्थित मूल्य से ज्यादा कीमत चुकाकर किसानों से गेहूँ खरीद कर या तो अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बेच दिया या बचाकर रख लिया। सरकार का लक्ष्य उस समय १५० लाख टन गेहूँ खरीदने का था। लेकिन उतना गेहूँ भी उसे किसानों से नहीं मिल पाया। बाद में जब बफर स्टॉक समाप्त होने लगा और गेहूँ की किल्लत हुई तो विश्व बाजार से लगभग दुगुने मूल्य पर उसे १३ लाख टन गेहूँ खरीदने का निर्णय लेना पड़ा। जो सरकार अपने किसानों को हजार रूपये क्विंटल समर्थन मूल्य देने को भी तैयार नहीं थी (जो उस समय का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मूल्य था) वही सरकार किसानों को दिये गये समर्थन मूल्य के दुगुने में गेहूँ का आयात करती है। इससे मनमोहन सिंह सरकार की किसानों के प्रति असंवेदशीलता और अदूरदर्शिता का अंदाजा लगाया जा सकता है।

अभी हाल-फिलहाल भारत और यूरोपीय यूनियन के बीच प्रस्तावित मुक्त व्यापार समझौता दुग्ध व्यवसाय और डेयरी उत्पादों के लिए ताबूत में आखिरी कील साबित होने जा रहा है। सन् २००७ से यूरोपीय यूनियन और भारत के बीच मुक्त व्यापार समझौता पर बातचीत चल रही है, जिसे पिछले दिनों प्रधान मंत्री की जर्मनी यात्रा के दौरान तमाम विरोधों के बावजूद लगभग अंतिम रूप दे दिया

गया। यह समझौता वाहन, दवा, सूचना प्रौद्योगिकी के साथ-साथ डेयरी उद्योग के लिए विश्वव्यापार समझौता के बाद गुलामी का दूसरा शर्मनाक दस्तावेज है।

यह आश्चर्यजनक है कि एक सम्प्रभु राष्ट्र के रूप में हम ऐसे गैरबराबरी के अपमानजनक समझौते करने के लिए विवश क्यों हैं? यह हमारे परजीवी शासक वर्ग के दबूपन का घृणित उदाहरण है। जिस तरह इंग्लैण्ड के औद्योगिकीकरण और ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार ने हमारे लघु और कुटीर उद्योगों को ऐतिहासिक रूप से बर्बाद कर डाला था उसी तरह आज एक बार फिर यूरोपीय यूनियन के साथ किया जाने वाला यह समझौता हमारे डेयरी उद्योग को तबाह कर देगा। पहले से ही आत्महत्या कर रहे किसानों के लिए यह समझौता आग में घी का काम करेगा।

१९९४-९५ में कृषि क्षेत्र में विश्वव्यापार समझौता लागू होने के बाद विकासशील देशों ने आयात-निर्यात पर नियंत्रण तथा सीमा शुल्क को समाप्त करना शुरू कर दिया। अतः पूर्व में उन देशों की कृषि को जो संरक्षण प्राप्त था, वह धीरे-धीरे खत्म होने लगा। विकसित देशों के कृषि उत्पाद उन देशों में प्रवेश कर वहाँ के स्थानीय उत्पादों के साथ प्रतिस्पर्धा करने लगे। फलतः खाद्यान्न की कीमतों में भारी गिरावट देखी गयी। एफ.ए.ओ. के अनुसार १९९७ से २००३ के बीच सभी जिनसे के संयुक्त मूल्य सूचकांक में वास्तविक अर्थों में ५३ प्रतिशत की गिरावट आयी। कम कीमतों का अर्थ है सस्ता आयात। इससे स्थानीय उत्पादकों के हित बुरी तरह प्रभावित हुए और कृषि पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। २००५ तक विकासशील देशों के कृषि उत्पादों की स्थिति खराब होने पर अनाजों की कीमतें चढ़ने लगीं। ऐसी स्थिति में विकसित देशों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने आपूर्ति में कमी कर कीमतों को और चढ़ने दिया। परिणामस्वरूप २००७ का अभूतपूर्व खाद्यान्न संकट उभर कर सामने आया। अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा निर्देशित स्थानीय कृषि के संरक्षण को खत्म करने वाली नीतियों और सस्ते आयात ने कई देशों की कृषि को चैपट कर दिया। 'लाइफ एण्ड डेब्ट' नामक वृत्तचित्र यह दिखाता है कि अमेरिका के सस्ते अनाजों के आयात ने जमैका की कृषि को पूरी तरह बर्बाद कर दिया।

हमारे देश ने जमैका जैसे देशों से सीख लेने का कार्य नहीं किया। हमारे देश का शासक वर्ग भी स्थानीय कृषि को संरक्षण देकर, खाद्य आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की अपेक्षा आयात के आधार पर जनता के पेट भरने का सपना देखने लगा है। मुख्य खाद्य फसलों की अपेक्षा निर्यात योग्य कृषि उत्पादों को उपजाने पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है। नगदी फसल उगाने का यह दबाव अतीत की नील खेती की याद दिलाता है। इसके पीछे तर्क यह दिया जाता है कि आज के विश्वग्राम में आवश्यक नहीं है कि हर देश हर वस्तु का उत्पादन करे। अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया अगर ज्यादा अनाज उत्पादित करने की स्थिति में हैं तो हम अपने संसाधनों को इस पर क्यों बर्बाद करें और क्यों न उनके सस्ते अनाज को आयातित कर अपनी जरूरतों को पूरा करें और उपभोक्ताओं को भी राहत दें? यह तर्क ऊपर से लुभावना जरूर लगता है पर यह हमारी कृषि को बर्बाद करने वाला तथा विकसित देशों के हाथों अपनी खाद्य जरूरतों को गिरवी रखने जैसा है।

कृषि उत्पादों के आयात-निर्यात के बारे में सरकार की कोई स्पष्ट नीति नहीं है। व्यापारिक उदारिकरण के बाद भारत को कृषि उत्पादों के निर्यात का कोई नया बाजार नहीं मिला। उल्टे निर्यात की अपेक्षा आयात में भारी वृद्धि हुई। १९९६-९७ और २००३-०४ के बीच मात्रा में ३७५ प्रतिशत और मूल्य में ३०० प्रतिशत की आयात में वृद्धि हुई। केवल १९९८ और २०००-०१ के बीच कृषि उत्पादों का औसत वार्षिक आयात करीब ६४ प्रतिशत बढ़ गया। वहीं निर्यात में ७ प्रतिशत की कमी आयी। घटता निर्यात और बढ़ता आयात कृषि व्यापार की दयनीय स्थिति खुद बयान करता है।

अपनी खाद्य आत्मनिर्भरता को त्याग कर निर्यात योग्य फसलों को बढ़ावा देने की नीति वस्तुतः विकसित देशों द्वारा पैदा किया गया एक ऐसा षड्यंत्र और दुष्क्रम है जिसमें हमारे देश के साथ-साथ अन्य विकासशील देश भी फँसते जा रहे हैं। अधिकांशतः विकसित देश अपनी जलवायु की विशिष्टताओं के कारण आमतौर पर एक फसली उत्पादन वाले देश हैं, जबकि अपने गर्म और समशीतोष्ण जलवायु के कारण ज्यादातर विकासशील देश बहुफसली उत्पादन वाले हैं। यहाँ फसलों के उत्पादन में विविधता है। अतः विकसित देश यह चाहते हैं कि विकासशील देश उन फलों, फूलों, सब्जियों, चाय और कहफ़ी का उत्पादन करें जिनकी उन्हें जरूरत है और जिनका उत्पादन वे नहीं कर पाते। इसके साथ ही वे अपने गेहूँ, मक्का जैसे अतिरिक्त और फालतू खाद्य फसलों को हमारे देश के बाजारों में खपा दें। इसीलिए विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा हमें निर्यात योग्य फसलों का पाठ पढ़ाया जाता है। हमारे देश में निर्यात योग्य फसलों में सोयाबीन का महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक ऐसी फसल है जिसका सीधे उपयोग जनता नहीं करती। इसका तेल भी अन्य तिलहनों की तरह छोटी मशीनों से नहीं निकाला जा सकता। यह पूरी तरह उद्योग और बाजार पर आश्रित उत्पाद है। इसे विकसित देशों की रणनीति के तहत हमारे देश में बढ़ावा दिया गया। हमें घोषित रूप से यह बताया गया कि इसमें बहुत प्रोटीन है इसलिए इसकी खेती से हमारे देश में कुपोषण की स्थिति में सुधार आयेगा, जबकि वास्तविकता यह भी थी कि विकसित देशों को पशुचारों के रूप से इसके खल्ली के आयात की आवश्यकता थी। हमारे यहाँ सोयाबीन की खेती वस्तुतः विकसित देशों में पशु आहार की कमी को पूरा करने के लिए प्रेरित की गयी थी। आज भी इसकी खल्ली मुख्यतः विकसित देशों को निर्यात

की जाती है। म.प्र. के होशंगाबाद और हरदा जिलों में जहाँ इसकी सर्वाधिक खेती की जाती है, जमीन बंजर होने के कगार पर पहुँच चुकी है।

आज विकासशील देशों का शासक वर्ग विकसित देशों की चालों में फँसकर, अपनी खाद्य आत्मनिर्भरता को संकट में डालकर उनकी जरूरतों के सामानों को पैदा करने की पैरवी कर रहा है। विकासशील देशों के आपसी होड़ और विकसित देशों में सीमित माँग के कारण विकसित देशों को कम कीमत पर उनकी जरूरतों के सामान मिल रहे हैं। इसके एवज में हमारा कृषि तंत्र और खाद्य आत्मनिर्भरता चैपट हो रही है। 'निर्यात बलाघात के लिए गुंजाइश बनाने के लिए घरेलू खाद्य उत्पादन की ही कुर्बानी देनी पड़ती है। विकसित देश थोड़े से हैं, पर काफी संगठित हैं। दूसरी ओर विकासशील देश बहुत ज्यादा हैं और अच्छी तरह संगठित नहीं हैं। इसलिए, होता यह है कि एक जैसे ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत अस्सी से ज्यादा विकासशील देश एक जैसे उत्पादों में निर्यात बलाघात के साथ एक-दूसरे के खिलाफ होड़ कर रहे होते हैं। जाहिर है कि इस क्रम में उन्हें प्रतिस्पर्धी ढंग से अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन भी करना पड़ा है। अब ऐसे हालात में, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उनके उत्पादों की इकाई कीमत नीचे ही खिसकनी है।' इन्हीं कारणों से भारत के कपास, रबर तथा नारियल उत्पादक किसानों को निर्यात में भारी नुकसान उठाना पड़ा और वही उनकी आत्महत्या का प्रमुख कारण बना।

१९९१ में कपास के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य बहुत ज्यादा थे। सिर्फ एक वर्ष में ही पिछले तीन वर्षों को मिलाकर किये गये ३४००० टन के निर्यात की अपेक्षा इस वर्ष ३७४००० टन कच्चे कपास का निर्यात किया गया। इस निर्यात से हुए फायदे ने बहुत सारे किसानों को भटकाया। आगे चलकर फसल बदलाव के खर्च और कपास उपजाने की बढ़ती लागत को पूरा करने के लिए भारी मात्रा में कर्ज लेकर महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक और पंजाब के किसानों ने कपास उत्पादित किये। १९९६ से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कपास की कीमतें तेजी से गिरने लगीं। वर्ष १९९५ से २००१ के बीच कपास की कीमतें लगभग आधी हो गयीं। इसके कारण भारतीय किसानों को भारी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा और उनमें आत्महत्या की प्रवृत्तियाँ बढ़ीं। सरकार किसानों के लिए कुछ भी नहीं कर पायी।

प्रायः कृषि संकट और किसानों की आत्महत्या का समाधान कृषि के विविधीकरण तथा नकदी फसलों के उत्थान में देखा जाता है। सरकार अनाजों के उत्पादन में कम आबादी वाले विकसित पश्चिमी देशों की नीतियाँ अपना रही है। सरकारी तंत्र लगातार किसानों में यह भ्रम फैलाने की कोशिश कर रहा है कि गेहूँ, चावल आदि खाद्य फसलों की जगह उच्च मूल्य वाले निर्यात योग्य फसलों का उत्पादन करो। इसके माध्यम से किसानों को जल्दी अमीर बनने का सपना दिखाया जाता है। अधिकांशतः नकदी फसलों का लागत मूल्य ज्यादा होता है जिसके लिए किसानों को कर्ज की जरूरत होती है। इन निर्यात योग्य नकदी फसलों के वैश्विक मूल्य पर विशालकाय बहुराष्ट्रीय कंपनियों का नियंत्रण होता है। इन फसलों के उतार-चढ़ाव भरे मूल्य के भँवर में फँसकर किसानों को अक्सर घाटा लगा है। अब यह तथ्य पूरी तरह प्रमाणित है कि खाद्य फसलों के उपजाने वाले किसानों की अपेक्षा नकदी फसल उगाने वाले विदर्भ, तेलंगाना, कर्नाटक और केरल के किसानों ने ज्यादा आत्महत्याएँ की हैं।

भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में खाद्य फसलों की जगह कपास, फलों, फूलों, सब्जियों, औषधीय पौधों और जट्रोफा की खेती को बढ़ावा देना पहले से ही अनाजों के उत्पादन में आये ठहराव और खाद्य संकट को और भी ज्यादा गंभीर बना देना है। ऐसा बहुसंख्यक जनता की जरूरतों और आवश्यकताओं की अपेक्षा शहरी मध्यवर्ग और बाहरी माँगों को तरजीह देने के कारण होता है। 'निर्यात समृद्धि लाता है', जैसे भ्रमपूर्ण विचारों से मुक्त होकर घरेलू माँग और जरूरतों का भी खयाल रखा जाना चाहिए। नहीं तो एक संकट का समाधान दूसरे बड़े संकट को जन्म दे सकता है।

उत्सा पटनायक का मानना है कि उदारीकरण की नीतियाँ लागू होने के बाद भारत ही नहीं, अन्य विकासशील देशों का रूझान भी खाद्य फसलों की अपेक्षा निर्यात योग्य फसलों की ओर बढ़ा। खाद्यान्न उपजायी जाने वाली जमीनों पर निर्यात योग्य फसलें उगायी जाने लगीं। इससे उन देशों के साथ वैश्विक स्तर पर भी खाने योग्य अनाजों की उपलब्धता में कमी आयी। १९८०-८५ में विश्व में प्रति व्यक्ति अनाज का उत्पादन ३३५ किलो ग्राम था। जो २०००-०५ में घटकर ३१० कि.ग्रा. रह गया। भारत और चीन का नब्बे के दशक तक पूरे विश्व में अनाज उत्पादन में ३० प्रतिशत का योगदान था। इनके बदले रूझानों ने खाद्यान्न उत्पादन को विशेष रूप से प्रभावित किया। भारत, चीन, इंडोनेशिया, फिलीपीन्स, थाइलैण्ड, वियतनाम, इरान, मिस्र, पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका जैसे ग्यारह विकासशील देशों का विश्व अन्न उत्पादन में ४० प्रतिशत का योगदान रहा है। १९८९-९० और २००३-०४ के पन्द्रह वर्षों के बीच प्रति वर्ष इनका अनाज उत्पादन १.१ प्रतिशत की दर से बढ़ा जबकि जनसंख्या २ प्रतिशत की दर से बढ़ रही थी। पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस बीच इन देशों के निर्यात योग्य फसलों के उत्पादन में १० गुना तेज वृद्धि हुई। स्पष्ट है कि इन देशों में जिन जमीनों और संसाधनों का उपयोग उस देश की जनता के खाद्यान्न उत्पादन के लिए होना चाहिए था, उसे विकसित देशों में निर्यात के लिए किया गया।

डॉ० मंजूषा श्रीवास्तव

साम्राज्यवादी देशों द्वारा प्रेरित भूमंडलीकरण की नीतियों ने एक ऐसी नवऔपनिवेशिक स्थिति निर्मित कर दी है जिसे देखकर औपनिवेशिक दिनों की याद ताजा हो जाती है। जिस तरह उपनिवेशों की उपजाऊ जमीन और संसाधनों से आकर्षित होकर विकसित देशों ने उन पर राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण प्राप्त किया था, आज बदले हुए स्वरूप में विश्वव्यापार की नीतियों के कारण उसी तरह का नियंत्रण पुनः कायम कर लिया है। जमीन, श्रम और संसाधन हमारे हैं लेकिन हम उनकी जरूरत की वस्तुएँ उत्पादित कर उनके दरवाजे तक पहुँचा रहे हैं। कल तक हम चाय, कफ़ी, चीनी और रूई का निर्यात करते थे पर आज हमारे देश में उपजाये गये फल, फूल और सब्जियाँ उनके दुकानों की शोभा बढ़ा रही हैं। उत्सा पटनायक के शब्दों में कहें तो "उपनिवेशीकृत भारत के किसान भूखों मरते थे, जबकि इंग्लैण्ड को गेहूँ का निर्यात किया जाता था और अब आधुनिक भारत के किसानों में भोजन की कमी हो गयी है, जबकि वे विदेशों के धनाढ्य उपभोक्ताओं के लिए खीरा और गुलाब पैदा कर रहे हैं।"

अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने भारत के खाये जाने योग्य अनाजों को माल में तब्दील करके उसे निर्यात की वस्तु बना दिया था। आज वही कार्य हमारे आजाद देश की सरकारें कर रही हैं। "१८५७ से १९०० के बीच, जो अकाल के सबसे बुरे साल थे, अनाज का निर्यात तीस लाख टन प्रति वर्ष से बढ़कर १ करोड़ टन हो गया, जो पच्चीस लाख लोगों के साल भर के भोजन के बराबर था और ठीक उसी समय, मोटे तौर पर अनुमानित, एक करोड़ बीस लाख से दो करोड़ नब्बे लाख के बीच लोगों की मौत हुई। जैसा कि डेविस टिप्पणी करते हैं 'लन्दनवासी वास्तव में भारतीयों के मुँह की छिनी हुई रोटी खा रहे थे' और एक अन्य प्रेक्षक को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं 'यह एक विसंगति है कि अपने यहाँ अकाल की मार झेल रहा भारत दुनिया के अन्य हिस्सों में खाद्यान्न की आपूर्ति कर रहा था।" हमारी चुनी सरकारों द्वारा अपनायी गयी निर्यातोन्मुखी नीतियों ने एक बार फिर हमें उन्नीसवीं सदी की उन्हीं औपनिवेशिक स्थितियों में ले जाकर पटक दिया है।

संदर्भ

1. सोफिया मर्फी/ 'कृषि क्षेत्र में मुक्त व्यापार: एक बुरा विचार जिसका वक्त पूरा हो चुका है' / विश्वव्यापी कृषि संकट' (मंथली रिव्यू में प्रकाशित लेखों का संग्रह) गार्गी प्रकाशन/जनवरी-२०१०/पृ.
2. एम.एस. स्वामीनाथन से आशा कृष्ण कुमार की बातचीत/ 'पश्चिम के पक्ष में झुकी हुई है विश्व व्यापार संगठन की व्यवस्थाएँ' / 'सहमत मुक्तनाद' / वर्ष-०२, अंक-१०, १२/ अक्टूबर-दिसम्बर, २०००/पृ. ८-९.
3. पी. साईनाथ/ किसानों की आत्महत्या क्यों ? / 'फिलहाल' / वर्ष-६/ अंक: १५-१८/ अगस्त-सितम्बर, २००८/ पृ. ३० उत्सा पटनायक/ 'अन्तर्राष्ट्रीय बाजार और भारतीय किसान' / 'सहमत मुक्तनाद' / वर्ष-०१, अंक-०४, / अप्रैल-मई, १९९९/पृ. १८
4. जाहिद खान/ (पश्चिम बंगाल) किसानों की समस्याओं पर कब संजीदा होगी सरकारें/ 'समकालीन जनमत' / मार्च, २०१२/पृ. १३
5. उत्सा पटनायक/ से सुकुमार मुरलीधरन की बातचीत/ 'तबाही का रास्ता' / 'सहमत मुक्तनाद' / वर्ष'२, अंक-१०, १२/ अक्टूबर-दिसम्बर २०००/पृ. २१
6. उत्सा पटनायक/ 'भारत और विकासशील देशों में खाद्य संकट की शुरूआत' / विश्व खाद्य संकट (मंथली रिव्यू में प्रकाशित लेखों का संग्रह) / गार्गी प्रकाशन/ जनवरी २०१०/ पृ. ५५
7. फिलिप मैकमाइकल/ विश्व खाद्य संकट: ऐतिहासिक संदर्भ/ विश्व खाद्य संकट/ वही